*बनास जन साहित्य संस्कृति का संचयन संपादक पल्लव जनवरी – मार्च 2017 वर्ष 6 अंक 21, आई. एस. एस. एन. नंबर 2231-6558 दिल्ली*

# असगर वजाहत की लंबी कहानियां और कथ्य की व्यापकता

*बिपिन तिवारी*

लंबी कहानी हिंदी कहानी विधा की एक ऐसी उपलब्धि है जिसे अलग तरह से रेखांकित करने की जरूरत है। लंबी कहानियां पहले भी लिखी गई हैं। मुक्तिबोध से लेकर निर्मल वर्मा आदि रचनाकारों ने लंबी कहानियां लिखी हैं। लंबी कहानी को सामान्य कहानियों से पृष्ठ संख्या अधिक होने के कारण लंबी नहीं माना जाता अपितु कहानी के कथानक को इसका आधार बनाया जाता है। मुक्तिबोध की कहानियांे में कथ्य इतना अधिक जटिल है, जिसे यदि उस युग के संदर्भ में रखकर कहानियांे की विवेचित किया जाए तो अब तक के पाठ से अलग पाठ निर्मित होगा। मुक्तिबोध और निर्मल वर्मा की कहानियां या इसके बाद के रचनाकारों की लंबी कहानियांे को लंबी कहानी विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। हालाकि हंस पत्रिका के संपादक राजेन्द्र यादव ने गुइया रायेस की डेढ़ पृष्ठ की कहानी को लंबी कहानी के रूप में प्रकाशित किया।[1] 'हंस' में लंबी कहानी खण्ड के अंतर्गत लंबी कहानियों को वह छापते रहे। इस खण्ड के अंतर्गत प्रभा खेतान की 'आओ पेपे घर चलें', प्रियंवद की 'आर्तनाद', शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्तर', सृंजय की 'कॉमरेड का कोट' आदि कहानियां प्रकाशित हुईं। 'हंस' की देखा-देखी ही दूसरी पत्रिकाओं ने 'लंबी कहानी' स्तम्भ के अंतर्गत बड़ी कहानियों को प्रकाशित किया। 'अखिलेश' के संपादन में निकलने वाली 'तद्भव' और हरे प्रकाश उपाध्याय के संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'मंतव्य' में 'लंबी कहानी' एक स्तम्भ के अंतर्गत छपती हैं। 'मंतव्य' पत्रिका का अभी हाल ही में 'लंबी कहानी' अंक प्रकाशित हुआ है। हिंदी कहानी आलोचना में 'लंबी कहानी' को कहानी विधा के रूप में स्वीकार करने में थोड़ा संकोच बना हुआ है। यह अधिकांश आलोचक स्वीकार करते हैं कि आज का यथार्थ बहुत जटिल हो गया है, जिसे पकड़ना, अभिव्यक्त करना बहुत सरल नहीं है। इस जटिल यथार्थ को जब एक अलग विधा में अभिव्यक्त किया जाता है तब उसे स्वीकारने में जो संकोच है, उसके पीछे क्या सोच है, समझ से परे हैं। वहीं लंबी कविताओं को हिंदी आलोचकों ने आसानी से न केवल स्वीकार किया अपितु उसकी व्याख्या के लिए नए सूत्र भी प्रस्तुत किये। लंबी कविताओं को अपनी आलोचना का आधार डॉ. नामवर सिंह से लेकर नंद किशोर नवल आदि आलोचकों ने बनाया है। लंबी कहानियों को हिंदी कहानी की एक अलग विधा के रूप में स्थापित करने का ईमानदार प्रयास कहानीकार अरुण प्रकाश जी ने अपने कहानी संग्रह 'लाखों के बोल सहे' की भूमिका में जरूर किया था, जिसे बाद में वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी जी ने 'कुछ कहानियां कुछ विचार' कहानी आलोचना पुस्तक में रेखांकित किया। नवें दशक के कहानीकारों ने लंबी कहानियां अधिक लिखी हैं जिसका कारण इस दौर के यथार्थ की जटिलता है। इस लेख में असगर वजाहत की कुछ कहानियों को लंबी कहानी के रूप में विवेचित करने का प्रयास किया जाएगा। यह कहानियां कथ्य की दृष्टि से व्यापक सरोकारों से युक्त हैं। वे हैं-केक, कत्लेआम का मेला, राजधानी के नीचे, सारी तालीमात, ज़ख़्म, तेरह सौ साल का बेबी कैमिल, गवाही। यह सभी कहानियां कई संग्रहों से चुनी गई हैं। यह कहानियां यथार्थ की परतों को उधेड़कर हमारे सामने प्रस्तुत करती हंै। यह यथार्थ सामान्य लगते हुए भी

पाठक को गहरे स्तर तक प्रभावित करता है। यह रचनाकार की सफलता भी होती है। असगर वजाहत अपनी कहानियांे में इस बात का ध्यान रखते हैं, इसीलिए वह पाठकों के पसंदीदा कहानीकारों में हैं।

'केक' कहानी एक ऐसे यथार्थ से परिचित कराती हैं जो हमारे आस-पास का है। कहानी केक बनाने की प्रक्रिया के आस-पास नहीं घूमती अपितु यह कहानी की एक घटना मात्र है। कहानी पात्र डेविड की भीतर की जो हताशा है वह उस महानगर के अमानवीय वातावरण से पैदा हुई है, जहां बेहतर करने की सारी उम्मीदें एक-एक कर खत्म हो गयी हैं। आज वह मात्र एक प्रूफरीडर बनकर रह गया है। उसके सपने बेहतर होने की उम्मीद में ही बिखर गए। डेविड महीने में इतना भी नहीं कमा पाता, जिससे वह आरामदायक जिंदगी जी सके। पैसे की कमी की चलते, वह मिसेज डिसूजा के घर में रहने को मजबूर है। घर का पूरा परिवेश ही घर की विपन्नता को बयान करता है। ''...पत्थर की छत के नीचे खाने की मेज है। जिसके एक पाये की जगह ईंटें लगी हैं। दूसरे पायों को टीन की पट्टियों से जकड़ कर कीलें ठोक दी गई हैं। रस्सी, टीन, लोहा, तार और ईंटों के सहारे खड़ी मेज पहली नजर आदिकालीन मशीन-सी लगती है। मेज के ऊपर मिसेज डिसूजा की सिलाई मशीन रखी है। खाना खाते समय मशीन को उठाकर मेज के नीचे रख दिया जाता है। खाने के बाद मशीन फिर मेज पर आ जाती है। रात में डेविड साहब इसी मेज पर बैठकर प्रूफ देखते हैं।...मैं कमरे में रखी सिलाई मशीन या मेज की तरह सिलाई मशीन का एक हिस्सा बन जाता हूं।''[2] घर में कुछ भी स्थाई नहीं है। डेविड साहब की जिंदगी में जिस तरह का अस्थायी भाव बैठ गया है, उससे उनका व्यक्तित्व कुंठित हो गया है। यह कुंठा अपने बॉस बासु को गालिया देने और हिंदुओं के खान-पान आदि की आलोचना आदि में दिखाई पड़ती है। यह कहानी भीष्म सहनी की 'चीफ की दावत' कहानी का विकास दिखाई पड़ती है। 'चीफ की दावत' कहानी में जहां मां एक सामान में बदलती हुई दिखाई पड़ती हैं वहीं 'केक' कहानी में डेविड, मिसेज डिसूजा सामान में तब्दील हो चुके हैं। यहां मिसेज डिसूजा और डेविड दोनों अपने को सामान में तब्दील होते महसूस भी कर रहे हैं। यह कितना यातनादायक होता है जब लाख प्रयास के बावजूद एक सामान्य जिंदगी भी नहीं मिल पाती। मेज यहां हर चीज के लिए है। खाने के लिए, प्रूफरीडिंग के लिए, सिलाई मशीन रखने के लिए। यहां बाकी सबकुछ बदलता रहता है। सिर्फ मेज स्थिर है। वह भी बहुत से सहारों के साथ खड़ी की गई है। डेविड ऐसे ही अपने सपनों के सहारे शहर में जिंदगी बिताने आया था, पर कुछ भी नहीं हो सका। इसीलिए, वह मिसेज डिसूजा के लाख समझाने के बाद भी शादी करने के लिए तैयार नहीं होते। ''अब क्या हो सकता है! पच्चीस साल की प्रूफ़रीडरी करने के बाद अब और क्या कर सकता हूं?...''[3] कहानीकार डेविड के माध्यम से युवा वर्ग की तस्वीर हमारे सामने प्रस्तुत करता है जो विकल्पहीनता के कारण सार्थक जीवन नहीं जी पाती। डेविड के जीवन की असफलता और उसका बोध इतना गहरा है कि वह बची जिंदगी को भी सामान्य तरह से नहीं जी पाता। वह जिंदगी के छोटे-छोटे सुखों से वंचित हो जाता है। शादी की बात जो आमतौर से जीवन में हंसी-उल्लास का भाव पैदा करती है, वही उसके भीतर तनाव पैदा करती है। ''मैं शादी कैसे कर लूं आंटी? दो सौ पचहत्तर रुपये इक्कीस पैसे से एक पेट नहीं भरता। एक और लड़की की जान लेने से क्या फायदा! मेरी जिन्दगी तो गुजर ही जाएगी। मगर मैं यह नहीं चाहता कि अपने पीछे एक गरीब औरत और दो-तीन प्रूफरीडर छोड़कर मर जाऊं जो दिन-रात मशीनों की कान

फाड़ देने वाली आवाज़ में बैठकर आंखें फोड़ा करें।''[4] लेकिन वह यह नहीं चाहता कि जो लोग अभी नौजवान हैं, जिनके अंदर कुछ करने का जज़्बा है उनको इस शोषण के चक्र में पड़ना चाहिए। वह अपने दोस्त को शहर की इन सच्चाइयों से परिचित करा देना चाहता है, जिनसे वह गुज़र चुका है। ''इस आदमी के पास गांव में थोड़ी सी जमीन है जहां गेहूं और धान की फसल होती है। इसको चाहिए कि अपने खेत के पास एक कच्चा घर बना ले। उसके सामने एक छप्पर डाल ले, बस, उस पर लौकी की बेल चढ़ानी पड़ेगी। देहात में आराम से एक भैंस पाली जा सकती है।...ठाठ से काम करें और खाएं।''[5] डेविड की दूसरों के प्रति जो सलाह है, उसमें पीड़ा का स्वर गहरे रूप में छिपा हुआ है। वह महानगर की सच्चाई से परिचित हैं, जिसमें सबकुछ धीरे-धीरे बिखरता है। इसीलिए उसे राजनीति से लेकर व्यवस्था के हर रूप से शिकायत है। ''...यह तो दावा है कि इस देश में बगैर चार सौ बीसी किए कोई आदमी की तरह नहीं रह सकता। आदमियों की तरह रहने के लिए आपको ब्लैक मार्केटिंग करनी पड़ेगी; लोगों को एक्सप्लाएट करना पड़ेगा...अब आप सोचिए, मैं किसी साले से कम काम करता हूं। रोज़ आठ घण्टे की ड्यूटी और दो घण्टे बस के इन्तजार में...।''[6] डेविड के भीतर की जो हताशा है, वह निजी होते हुए भी आम जन की हताशा को व्यक्त करती है। डेविड के पास अपना एक समृद्ध अतीत है ठीक वैसे ही समृद्ध अतीत मिसेज डिसूज़ा के पास है। दोनों वक्त के मारे हैं, इसीकारण उनके न चाहने के बावजूद, उन्हें वह सब करना पड़ रहा है, जिसके बारे में कभी सोचा नहीं था। वह इतने लंबे अनुभव से समझ चुका है कि यहां एक बेहतर जिंदगी ईमानदारी के साथ नहीं जी जा सकती। डेविड के माध्यम से कहानीकार महानगरीय जीवन की उन त्रासद स्थितियों की सच्चाई बयान करता है जिनमें न जाने कितने लोग सुनहरे भविष्य का सपना लिए जिंदगी को धीरे-धीरे खत्म कर बैठते हैं। डेविड की जिंदगी कुछ ऐसी ही बीत गई है। डेविड की हताशा में राजनीति की दशा और समाज के प्रति उसके सरोकारों को भी देख सकते हैं। यह वह दौर है जब समाज में पहले कुछ बनावटी प्रश्न खड़े किए जाते हैं और बाद उनके वैसे ही उत्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। नवें दशक के बाद के यथार्थ के संदर्भ में यदि देखें तो इस सच्चाई को बेहद गहराई से देखा-परखा जा सकता है। दिल्ली पर जिस तरह से पढ़े-लिखे युवाओं सहित कामगार वर्ग का दबाव बढ़ रहा है, उससे आने वाले दिन कितने भयावह होने जा रहे हैं, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। अब नई नौकरियां निकालने के बजाय हर जगह कटौती की जा रही है जिसे सरकारी कार्यालयों, विश्वविद्यालयों, गैर सरकारी संस्थाओं में साफतौर से देख सकते हैं। समाचार-पत्र के कार्यालयांे में जबर्दस्त छंटनी की गई। अब ऐसे लोगों को खोजा जा रहा है जो एक-साथ कई तरह से अखबार को फायदा पहुंचा सकते हों। इसमें किसी भी तरह के सरोकार की बात शामिल नहीं है। उदय प्रकाश की कहानी 'पॉल गोमरा का स्कूटर' कहानी इस बदलाव को पूरी गंभीरता से दिखाती है। जहां मशीनों से लेकर उनको चलाने वाले तक बदल गए हैं।[7] डेविड कहता तो कुछेक वाक्यों का समूह है, परंतु उन शब्दों में उसके भीतर की असहायता बहुत अधिक है। डेविड जिस व्यवस्था में जीने का मजबूर है, वह व्यवस्था पूंजीवादी शक्तियों द्वारा संचालित है। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में राजनीतिशास्त्री रणधीर सिंह मिल्टन फ्रीडमैन को उद्धृत करते हुए लिखते हैं-''...कार्पोरेट शासित उद्योगीकरण सामान्यतः बहुत ज्यादा रोजगार का सृजन नहीं करता। बल्कि जिन गतिविधियों का यह स्थान लेता है उनमें रोजगार को नष्ट ही करता है। इसकी मुख्य चिंता लाभ कमाना और इसके लिए श्रम लागत में कटौती करने सहित उत्पादन लागत कम करना है।...''[8] वहीं भूमंडलीकरण के

नीतियों के लागू होने के बाद सरकारी क्षेत्र में भी रोजगार के अवसर कम हुए हैं। कहानी एक साथ कई स्तरों पर समाज की सच्चाई बयान करती है। एक तरफ कहानी में डेविड की हताशा के माध्यम से युवा वर्ग की स्थिति देख सकते हैं, तो दूसरी ओर राजनीतिक व्यवस्था की सच्चाई भी दिखाई पड़ती है। अब राजनीति में उन्हीं लोगों का प्रभाव है जो राजनीति के नाम पर भ्रष्टाचार मंे लिप्त हैं। इसीकारण युवाओं का राजनीति से मोहभंग होता दिखाई पड़ता है। कहानी का फलक बहुत व्यापक है। यही लंबी कहानी की विशेषता है। कहानी को पढ़ते हुए तत्कालीन समाज, राजनीति की स्थिति, चरित्र, युवा वर्ग की हताशा को साफतौर से देख सकते हैं।

'कत्लेआम का मेला' कहानी वर्तमान समय में राजनीति और समाज की जो स्थिति है उसकी सच्चाई बयान करती है। कहानी के कुछेक पात्र समाज, राजनीति और आम लोगों की मनःस्थिति को व्यक्त करते हंै। आज की राजनीति जहां देश की वास्तविक समस्याओं से कट गई है, उसीतरह लोगों की संवेदनाएं भी कुंठित हो गई हंै। अब व्यवस्था द्वारा आम जन के साथ जो भी घृणित व्यवहार किये जाते हैं, उसके प्रति लोगों में किसी तरह का कोई असंतोष नहीं है। इसकी विवेचना आगे की गई है। युवाओं को सवाल उठाने के नाम पर मारा जा रहा है। इनकी गलती बस इतनी है कि यह कुछ सवाल खड़े कर रहे हैं। लोगों के लिए युवाओं का मारा जाने की घटाना, सहज सामान्य है। वह इन सबको लेकर दुःखी होना भूल गये हैं। यहां तक कि जो पिता है, उसकी भी संवेदनाएं इतनी भोथरी हो चुकी हैं कि वह पुत्र की लाश कंधे पर ढोते हुए भी उसकी आंखों से आंसू नहीं निकल रहे। यह हालत किसी एक पात्र की नहीं है। आज आदिवासियों और उनके अधिकारों की मांग करने वाले युवाओं के साथ व्यवस्था का यही बर्ताव हो गया है। समाज इन सबके प्रति असंवेदनशील है। वैसे व्यवस्था अमानवीयता को छिपाने के लिए भय का माहौल निर्मित करती है। इसके खिलाफ कोई भी कुछ कहने से डरता है। इस तथ्य को हाल की घटनाओं में भी देखा जा सकता है। अब लोगों की दिलचस्पी घटनाओं के कारणों को जानने तक सीमित हो गई है।

''...एक सौ ग्यारह लोगों की लाशें आ गई हैं।

...ये नौकरी मांगने गए थे।

...ये इंटरव्यू देने गए थे।

...ये देश की सेना में भरती होने गए थे।

...ये एडमीशन लेने गए थे।''

''...ये पानी मांगने गये थे।

...वे बिजली मांगने गये थे।

...और इधर...पता नहीं कितनी लाशें पड़ी हैं।

...वे इंसाफ मांगने गये थे।

...क्यों मार दिया?

...बहुत बड़ा जुर्म किया है।''...

''ये अस्पताल के सामने पड़े थे...वहां से लाए गए।

...ये खेती बाड़ी कर रहे थे।

...और ये?

...ये...ये कुछ नहीं कर रहे थे।

...और ये...

...ये गैस से...

...और ये?

...ये बेकार थे...बेकार।''[9]

यह व्यवस्था के ऐसे चरित्र को प्रकट करता है जो सामान्यतः लोकतंत्र की महानता के गुणगान में छिप जाता है। जहां युवाओं की हर आवाज़ को विरोधी आवाज मानकर, उनको देशद्रोही करार देकर, खत्म करने का षड़यंत्र सत्ता के द्वारा संगठित रूप से रचा जाता है। रोहित वेमुला की घटना हो या कन्हैया कुमार की, सभी इसी तथ्य को रेखांकित करती हैं। सत्ता जिस वर्ग से सबसे अधिक अपने को असुरक्षित महसूस करती है, वह यही युवा वर्ग है, जो उनके साथ सहमति नहीं रखता। वह रोजगार की मांग करता है। वह समाज में घट रही घटनाओं को लेकर सवाल खड़े करता है। इसीलिए वह उनकी नजर में ठीक नहीं है। ऐसे लोगों के दिमाग को दुरुस्त करने के लिए वह सब कुछ किया जाना जरूरी है, जो भले ही कितना अलोकतांत्रिक हो, अन्यायसंगत हो, अमानवीय हो। भारतीय समाज में पिता के सामने पुत्र की मृत्यु को उचित नहीं माना गया है। पुत्रों की मृत्यु किसी आकस्मिक दुर्घटना का परिणाम भी नहीं है अपितु यह राज्य द्वारा संगठित तरीके से की गई कार्रवाई है। इस व्यवस्था में न जाने कितने पिताआंे को अपने कंधों पर पुत्रों की लाश को ढ़ोने के लिए मजबूर कर दिया गया है। ''...बूढ़ा जब पहली बार सबसे छोटे बेटे की लाश लाया था तो इसी तरह खड़ा था। तब वह कुछ बोल रहा था, कह रहा था। शुक्र करो कि मुझे अपने लाडले की लाश मिल गई है। कुछ लोगों को तो उनके बेटों की लाश नहीं मिल पाई है।

जिन्होंने मेरे बेटे को मारा है बहुत नरम दिल लोग थे। इतनी इंसानियत कौन दिखाता है आजकल।''[10] यह कहानी व्यवस्था के वर्तमान चरित्र की सच्चाई बयान करती है। राज्य का जब यह चरित्र बनने लगे, तो राज्य की अवधारणा पर ही सवाल खड़े हो जाते हैं। ऐसे में राज्य को किसी भी तरह कल्याणकारी राज्य का प्रतीक नहीं माना जा सकता। कहानी के इस तथ्य को प्रतिदिन की अखबारी कतरनों, इलेक्ट्रानिक मीडिया की खबरों में देख सकते हैं। कहानीकार इस तथ्य को जितनी ठंडेपन के साथ अभिव्यक्त करता है, उससे वातावरण में व्याप्त मृत्यु की छाया को महसूस किया जा सकता है। ''आसमान का रंग इतना सुर्ख हो गया जैसे तपता हुआ इस्पात और लगा कि अभी कुछ ही सेकेंड में आसमान फट जाएगा और ज़मीन के टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। हवा में जली हुई लाशों की बदबू शामिल हो गई और आसमान पर सफ़ेद बादलों के डरे-सहमे टुकड़े अपनी जान बचाने की कोशिश में इधर-उधर छिपने की जगह तलाश करने के लिए भागने-दौड़ने लगे।''[11] ऐसे में सबकुछ अपने मूल चरित्र से बदला हुआ दिखाई पड़ रहा है। पिता का व्यवहार पहली नजर में अप्रत्याशित दिखाई पड़ता है, परंतु जब व्यवस्था के चरित्र के बरक्स रखकर देखते हैं, तब सिक्के के दूसरे पहलू का पता चलता है। पिता के भीतर इतना कुछ टूट गया है, बिखर गया है कि अब उसके भीतर कुछ भी सहज ढंग से घटित नहीं होता। वह अकेला नहीं है, जो इस पीड़ा से गुजर रहा है अपितु न जाने कितने घरों के बेटे अपने पिताओं के कंधांे पर अंतिम नींद पूरी कर चुके हैं। उनका अपराध बस इतना था कि उन्होनंे कुछ अधिकारों की मांग की थी। वह शायद यह भूल गये थे कि जिस व्यवस्था में वह रह रहे हैं, वहां कहने को तो लोकतंत्र है लेकिन अंदरखाने कुछ अलग तरह का तंत्र संचालित हो रहा है। यह तंत्र कुछ खास लोगों को हित पहुंचाने के लिए विकसति किया जा रहा है। इस तंत्र में लोक ही सबसे अधिक उपेक्षित है। कहानी का कथानक कई छोटी कहानियों को अपने में समाहित किए हुए है। हर कहानी एक अलग तरह के यथार्थ की तस्वीर प्रस्तुत करती है। कहानी में मृत्यु का अहसास बहुत सघन है। पिता का चुपचाप पुत्र की लाश लेकर आंगन में घूमना और बहन का स्थिर गति से झाड़ू लगाना इतना भयावह है कि पूरा मंजर आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है। कहानीकार ने कथा का विन्यास इसतरह बुना है, जिससे इस भाव का बोध और गहरा हो गया है।

वहीं व्यवस्था के चरित्र को एक और कहानी 'राजधानी के नीचे' में साफतौर से देखा जा सकता है। कहानी में राजनीति के सरोकार ही नहीं, देश के नागरिकों की सोच किस तरह की बनती जा रही है, उसको भी देख सकते हैं। कहानी राजधानी ट्रेन में सफर कर रहे दो यात्रियों के आपसी बातचीत से शुरू होती है जिसमें एक तो प्रवासी भारतीय हैं और दूसरे एक धनवान सज्जन। कहानीकार ने धनवान सज्जन के बारे में कुछ जिक्र नहीं किया है, मसलन वह क्या करते हैं?, किस विचारधारा के हैं? पर बहस-मुबाहिसे में उनके तर्कों से वर्गीय चरित्र स्पष्ट हो जाता है। ''उनकी वेशभूषा वातानुकूलित रेल के डिब्बे के अनुकूल ही थी। सिल्क का कुर्ता, उसी तरह का पाजामा, पैर में हल्की चप्पलें, गले में सोने की चेन, आंखों पर सुनहरा चश्मा; दोहरा बदन; बैंक बैलेंस का आभास कराती आगे की ओर निकली तोंद। हाथ उठाए तो उंगलियों में हीरे की अंगूठियां। पैर उठाए तो पैरों में सोने के छल्ले। गर्दन उठाई तो बीस तोले की जंजीर, आंखे उठाईं तो छलछलाहट। जैसे भरा हुआ शराब का प्याला। निश्ंिचत मुस्कुराहट। हंसे तो दांतों में भरा सोना। पादें तो चमेली की खुशबू सी फैल गई!''[12]

कहानीकार इस व्यक्ति के माध्यम से भारत के उस प्रभु वर्ग की छवि निर्मित करता है जो तभी तक देशभक्त रहता है जब तक वह विदेशी, प्रवासी से बात करता है या फिर विदेश में भारत की नुमाइंदगी करता है अन्यथा वह अपने ही देश के लोगों का गला काटते हुए अपने स्वार्थ पूरे करता है। आजादी के बाद के दौर में जितनी भी योजनाएं बनाई गई उनका यदि सही तरह से क्रियान्वयन किया जाता तो समाज की गति अलग तरह की होती। कथापात्र के सरोकारों का पता प्रवासी से बातचीत में भी चलता है। ''...भाई साब, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाला हर आदमी लखपति है...लखपति...बताऊं कैसे? सुनिए। इन्हें दो-दो, तीन-तीन बार प्लाट एलाट होते हैं। प्लाटों को बेचकर नई झुग्गियां डाल लेते हैं। दिल्ली में किसी ने तीन प्लाट कहीं किसी भी कीमत पर बेच लिए तो लखपति तो है ही है। आप उन्हें गरीब कहेंगे...''[13] इस तर्क को वर्गीय आधार पर जांचा जाए तो पता चलता है कि व्यक्ति जिस वर्ग से जुड़ा होता है उसके सरोकार भी उसी से निर्धारित होते हैं। समाज का प्रभुत्वशाली पूंजीपति वर्ग हर स्थिति में समाज के कमजोर वर्ग के लोगों का शोषण करने से बाज नहीं आता। वह इस बात को स्वीकार नहीं पाता कि समाज में गरीबी, शोषण के कारण बढ़ रही है। पूंजीपतियों की सम्पत्ति मजदूरों के शोषण के कारण बढ़ रही है। यह वर्ग मजदूरों को कामचोर मानता है। इसीलिए उसके समाज विश्लेषण में यही तथ्य मुख्य रूप से बना रहता है। मुक्तिबोध ने इस वर्ग के सम्बन्ध में कहा है-'पूंजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता/स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी छल नहीं सकता/मुक्ति के मन को जन को।' मुक्तिबोध मध्य वर्ग के चरित्र को बहुत गहरे से समझ रहे थे। यह वर्ग अपने स्वार्थों के हिसाब से अपना चरित्र प्रस्तुत करता है। वहीं प्रवासी विकास के सम्बन्ध में जो बात कहता है उससे पश्चिम की वास्तविकता को देखा जा सकता है, जो विकास के लिए कोई भी कीमत देने को तैयार है। वह चाहे किसी देश पर बम गिराने की कार्यवाही हो या फिर कुछ और। ''...मैं मानता हूं हमने तरक्की नहीं की है...लेकिन भाई साहब क्यों नहीं की है?...जापान ने क्यों तरक्की की? इसलिए कि उसके दो शहरों पर ऐटम बम गिरा दिया गया...जर्मनी ने क्यों तरक्की की? इसलिए कि वार में तहस-नहस हो गया...रूस ने क्यों तरक्की की? इसलिए कि सेकेंड वर्ल्ड वार में हर घर से दो रूसी खेत रहे...हमारे यहां इंडिया में वार नहीं हुई...वॉर हो जाती तो...मैं तो कहता हूं यहां एक तगड़ी वॉर हो जाए तो तरक्की ही तरक्की होगी...अरे मैं कहता हूं...एक ही ऐटम बम गिरा दिया जाए तो...''[14] जब विकास को मानवता की कीमत पर भी न्यायसंगत मान लिया जाने लगे तो इससे उस देश के लोगों की मनोवृत्ति का अंदाजा लगाया जा सकता है। आज अधिकांश पश्चिमी देश मानवता विरोधी कामों को अंजाम देकर, विकसति बनाए हुए है। अमेरिका इराक, अफगानिस्तान आदि देशों में जो कर रहा है या किया है, उसके पीछे उसके निहित साम्राज्यवादी हित हैं। वह दुनिया में शांति कायम करने के नाम पर पड़ोसी मुल्कों के बीच तनाव बढ़ाने में पूरा सहयोग करता है और जब युद्ध की नौबत आ जाती है तब अमेरिकी फैक्ट्रियों में बने हथियारों को बेंचकर अपना मुनाफा कमाता है। भारत की प्रगति भले ही धीमी है परंतु यहां बहुत प्रयास करने के बावजूद किसी धर्म के खिलाफ नफरत का भाव पैदा नहीं हो पाया है। एक बात और गौर करने लायक है, कि भारत में यदि कहीं किसी खास धर्म के खिलाफ कोई सांप्रदायिक तनाव पैदा करने का प्रयास किया भी जाता है, तो उसके खिलाफ बौद्धिक वर्ग लामबंद होकर प्रतिरोध करता है। इस तथ्य को गुजरात नरसंहार से लेकर दादरी में हुए अखलाक की हत्या तक में साफतौर से देखा गया। जबकि विकसित देशों में इस तथ्य को इस दृष्टि से नहीं देखा जाता।

कहानीकार ने 'राजधानी ट्रेन' के एक डिब्बे में बैठे दो यात्रियों के बीच की बातचीत के द्वारा कहानी बुनी है। कहानीकार बातचीत को इस तरह प्रस्तुत करता है कि उनका वर्गीय चरित्र और विकसित-विकासशील देशों की नीतियांे की वास्तविकता भी प्रकट हो जाती है। प्रवासी द्वारा किए गए सवालों का जवाब जो दूसरा कथा पात्र देता है वह खालिस राजनीतिक दांवपेचों वाला है। उसमें एक तरफ तो उसका भारत के प्रति अथाह प्रेम दिखता है, परंतु जब वह गरीबों के बारे में बात करता है, तब उसका असली चरित्र सामने आ जाता है। एक तरफ जो आदमी देश प्रेम की भावना से प्रेरित है, वही अपने समाज के गरीब लोगों के प्रति पूंजीवादी है। कहानीकार ने इस द्वैध को बहुत बारीकी से दिखाया है। यह कहानी छोटी होने के बावजूद अपने फलक में बहुत बड़ी है। अमेरिका सहित पश्चिमी देशों की नीतियांे और नागरिकों द्वारा किया जा रहा गौरवगान, कहानी में बहुत बारीकी से दिखाया गया है। कहानीकार ने अप्रवासी के माध्यम से एक बात और रेखांकित की है, कि भारत में रहने वाले अपने विदेशी भाइयों के लिए जिस तरह का भाव रखते हैं, उसके विपरीत प्रवासी जिस देश में रह रहे हैं उसके प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करते हैं। इसके साथ ही भारतीय राजनीति के चरित्र को, एक अनाम पात्र के मार्फत संकेतित किया गया है। यह पात्र ऐसा है जो व्यवस्था का प्रतीक बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है जिसे किसी भी पार्टी का नेता मान सकते हैं। कहानीकार ने समाज, वैश्विक-भारतीय राजनीति आदि सच्चाइयों को बारीकी से अभिव्यक्त किया है। यह कहानीकार की सफलता है कि कहानी में अतिशय भावुकता नहीं है और न ही अतिरिक्त भाषायी प्रयोग। कहानी में सबकुछ बहुत सहज ढंग से घटित होता है, इसके बावजूद यथार्थ की विडंबना गहरे तक मन में उतर जाती है और देश की स्थिति पर सोचने को मजबूर करती है।

वहीं असगर वजाहत ने सांप्रदायिकता को केन्द्र में रखकर जो कहानियां लिखी है, उससे समाज के सांप्रदायीकरण की पूरी प्रक्रिया को समझा जा सकता है। कहानीकार ने समाज का ऐसा चेहरा प्रस्तुत किया है, जो अनचीन्हा है, अनजाना है। कहानी के इन सभी ब्यौरों में समाज के भीतर सांप्रदायिक विचारों के पनपने, फैलने की प्रक्रिया को देख सकते हैं। 'सारी तालीमात' कहानी अलीगढ़ के 'कासिमपुरा' कस्बे को आधार बनाकर लिखी गई है, परंतु यह कहानी किसी भी कस्बे पर रखकर देखी जा सकती है। 1980 के बाद भारत में समाज का सांप्रदायीकरण बहुत तेजी से किया गया है और राजनीतिक फायदे उठाने के संगठित प्रयास किये गये हंै। इसके लिए नियोजित ढंग से दंगे आयोजित किए गए। इस आयोजन की पूरी प्रक्रिया पहले से निर्धारित होती है। दंगे होने के पहले एक-दूसरे धर्म के खिलाफ कुछ अफवाहें फैलाई जाती है, फिर दोनों धर्म के लोग अपने-अपने जातीय भाइयों को संगठित होने, बदला लेने की भावना भरते हैं। इस तथ्य को बरेली, मुरादाबाद और मुजफ्फर नंगर तक के दंगो में देखा जा सकता है। इतिहासकार बिपन चन्द्र ने इस प्रक्रिया को गहराई से समझाया है।[15] यह प्रवृत्ति हिंदू और मुस्लिम दोनों सांप्रदायिकों में देखी जा सकती है लेकिन आजादी के बाद के दौर में इस काम को हिंदू सांप्रदायिकों ने ज्यादा किया है। ''हर तीन-चार साल के बाद फसाद हो जाता है, ढाटे बांधे हुए। 'हर-हर महादेव' का नारा लगाते हिन्दुओं के गिरोह मुसलमानों के मोहल्लों पर हमला करते हैं और मुसलमान, हिन्दुओं पर जिहाद बोल देते हैं। आग लगाई जाती है जो होली-ईद मिलन, एकता के सिद्धांतों और साम्प्रदायिकता विरोधी कमेटियों की कागजी दीवार को भस्म

कर देती है। दो-चार दिन तक गिरोह सक्रिय रहते हैं। तेजाब, चाकू, लाठियां, बल्लम और एक-आध बन्दूक, देसी कट्टे लिए शत्रु की खोज में केवल एक-आध आदमी, औरत या दुकान ही नजर पड़ती है जिसका तत्काल फैसला कर दिया जाता है। कासिमपुरे में अफवाहों का बाज़ार गर्म हो जाता है। 'आज रात दो हजार हिन्दू हमला करने वाले हैं।' मोहल्ले के लड़के अपनी-अपनी छतों पर ईंटें जमा करने लगते हैं।...''[16] इन अफवाहों का असर इस तरह पड़ता है कि हिंदुओं के बीच रहने वाले मुसलमान अपना घर छोड़कर मुस्लिम बस्तियों की तरफ चले जाने में ही हित समझते हैं और मुसलमान बस्तियों के बीच रहने वाले हिंदू, हिंदुओं की बस्तियों में जाने को मजबूर हो जाते हंै। यह कोई सामान्य घटना नहीं है। इससे समाज की मिश्रित संरचना छिन्न-भिन्न हो जाती है। भारत एक ऐसा देश हैं जहां संस्कृतियों का संगम सबसे अधिक पाया जाता है परंतु सांप्रदायिकता की आग इस मिश्रित संस्कृति को ही सबसे अधिक नुकसान पहुंचाती है। आम भारतीय के संस्कार किसी एक संस्कृति के नहीं होते अपितु कई संस्कृति के तत्वों का युग्म होते हैं। ऐसे में जब दंगे भड़कते हैं तो भारतीय समाज की दीवार कमजोर होती है। ''सड़के ऊसर की तरह सुनसान हो जाती हैं। पुलिस के जूतों और सीटियों की आवाजों के सिवा कुछ नहीं सुनाई देता; कभी-कभी पुलिस जीप की आवाज़ आती है और फिर सन्नाटा छा जाता है...पूरा मोहल्ला एक ठण्डे भयानक तनाव और डर में डूब जाता है। चार-पांच दिन के बाद छुटपुट चाकू की वारदातें शुरू हो जाती हैं।...घुटी-घुटी सी भयानक चीख, भागते हुए पैरों की आवाज़े, खिड़कियां खुलने का शोर और फिर 'अल्लाहो अकबर' के नारे सुनाई पड़ते हैं।...''[17] यहीं से दंगे का पूरा माहौल निर्मित हो जाता है। दंगों के फैलने में अफवाहों का सबसे अहम योगदान होता है। वहीं पुलिस की भूमिका भी दंगों को फैलने में सहयोग देती है। इस तथ्य का विवेचन करने से पता चलता है कि भारतीय पुलिस में अधिकांश संख्या हिन्दुओं की है इसलिए दंगों के समय हिंदुओं के साथ उनकी सहानुभूति दिखाई पड़ती है, जिससे दंगों का प्रभाव और बढ़ जाता है। इसकारण मुस्लिम समाज पुलिस को लेकर विश्वास नहीं कर पाता। इसका फायदा तबलीगी जमात के लोगों को मिलता है। वह राज्य मशीनरी को हिंदू मशीनरी और पूरे समाज को सांप्रदायिक हिंदू समाज के रूप में व्याख्यायित करते हैं। लिहाजा सांप्रदायिकता का आधार समाज के बीच बनता चला जाता है। ''मुसलमानी मोहल्लों में दाढ़ियों की तादाद बढ़ जाती है। मस्जिद में नमाज़ी अधिक आने लगते हैं। लोग देर तक गिड़गिड़ाकर दुआएं मांगने लगते हैं। गुण्डा पार्टी लूट के माल को इधर-उधर करने में लग जाती है।...''[18] धर्म का उदार स्वरूप यहां आकर एक नये रूप में दिखाई पड़ता है, जो लोगों को जीने का तरीका नहीं सिखाता, उनमें अपने दीन की सेवा करने का भाव नहीं पैदा करता अपितु धर्म की व्याख्या दूसरे धर्म के लोगों की हिंसा करने तक सीमित हो जाती है। इन दंगों में समाज के उच्च वर्ग का कोई भी नुकसान नहीं होता, वह एक ही जगह अलग-अलग कोठियों में रहता है। ''शहर तीन हिस्सों में बंटा हुआ है। स्टेशन से उत्तर की तरफ़ चले जाइए तो सिविल लाइंस का इलाका है। चैड़ी सड़क पर दूर तक कोठियां बनी हुई हैं। डी.एम. की कोठी से सड़क शुरू होती है और इंजीनियर साहब की कोठी के पास मुड़ जाती है। यहां पर हाजी करीम और वीरेन्द्र बाबू की कोठियां एक-दूसरे से मिली हुई बनी हैं। रफ़ीक मंजिल, जहां कभी मोहम्मद अली जिन्ना ठहरा करते थे, के बराबर में जनसंघ के अध्यक्ष पण्डित सोमदत्त गौड़ का बंगला है। नवाब मजीद खां, जो अंग्रजी राज में बड़े ऊंचे ओहदों पर काम कर चुके थे, की कोठी के बिल्कुल सामने ज़िला क्रांगेस के नेताजी का विशाल 'स्वराज निवास' है।''[19]

कहानीकार ने इस तथ्य को बारीकी से दिखाया है कि सांप्रदायिकता का असर समाज के कम पढ़े लिखे लोगों पर ही ज्यादा होता है। यही लोग मौला के इस्लाम की बजाय मुल्ला के इस्लाम या उनके रहनुमाओं की तकरीर को ही इस्लाम समझ लेते हैं। ये लोग इसीकारण अपने को मुस्लिम बस्तियों और मुस्लिमों के इर्द-गिर्द तक समेट लेते हैं। दिल्ली का जाकिर नगर, पुरानी दिल्ली आदि इलाके इसी सच्चाई को प्रकट करते हैं। वैसे यह सच्चाई किसी एक महानगर या शहर की नहीं है अपितु इसे किसी भी शहर में देखा जा सकता है। ये बस्तियां सघन बसावट वाली होती है। ''...इन गलियों में इतनी जगह भी नहीं है कि तीन-चार आदमी एक साथ चल सकें। दोनों तरफ नालियां और उनमें पड़े पाखाने और पेशाब की तेज खारी बदबू हर वक्त गली में तैरती रहती है।...ककई ईंट से बनी दीवारों पर मर्दानगी बढ़ाने वाली दवाओं के इश्तिहार या उर्दू में लगे पोस्टर दिखाई पड़ते हैं जो किसी 'मीलाद शरीफ' या 'उर्दू के क़त्ल' और 'क़ौम पर मुसीबत' की इत्तिला देते हैं।...गली में खुलने वाले पुराने और बरसाती पानी में गले दरवाजों पर टाट का चिथड़ा पर्दा किसी भी वजह से कभी हट जाता है तो धुंआया हुआ दालान दिखाई पड़ जाता है।...किसी पर्दे के पीछे से कोई पीले या पतले चेहरे वाली लड़की झांकती है। और दो नंगे बच्चे, जिनके पेट फूले होते हैं...''[20] इस उद्धरण से एकतरफ तो मुस्लिम समाज की गरीबी पता चलती है तो दूसरी तरफ सांप्रदायिकता फैलाने के प्रयासों का भी पता चलता है। यह कौम जिस बदहाली के बीच जी रही है, वह विकास की एक दूसरी तस्वीर प्रस्तुत करती है। इस बदहाली के बीच जीता हुआ मुस्लिम समाज, राजनीतिक पार्टियों से लेकर समाज के कुछ लोगों के स्वार्थ पूरे करने का माध्यम मात्र रह गया है। कहानी में हाजी जी इस काम को बखूबी करते हुए दिखाई पड़ते हंै। हाजी जी जैसे लोग मुस्लिम समाज के लोगों में हिंदुओं को लेकर डर का भाव भरते हैं और उनसे अलग होने को, इस्लाम के साथ गद्दारी के रूप में व्याख्यायित करते हैं। ''इस्लाम तुम्हें यही सिखाता है कि एक मुसलमान के कारखाने में काम छोड़कर थोड़े से लालच में हिन्दू के कारखाने में चले जाओ?...माना कि तुमको यहां तकलीफ है थोड़ी, लेकिन आराम भी तो है। ईद-बकरीद की छुट्टी देता हूं। नमाज़-रोज़े में तुम्हारे साथ हूं।...कोई ज़्यादती करूं तो अल्लाह के यहां दामन थाम सकते हो। लेकिन वीरेन्द्र बाबू के यहां क्या करोगे? अगर कभी फसाद हो गया तो मार ही तो दिये जाओगे न? इस्लाम की सारी तालीमात को भूल गए हो? यही तो कौम में सबसे बड़ी खराबी है कि एक मुसलमान किसी दूसरे भाई का फायदा नहीं देख सकता। जाओ भाई जाओ, जिसे जाना हो जाओ। मैं तो वही करूंगा जो करता आया हूं।''[21] हाजी जी की यह बातें इस्लाम की खिद्मत से कहीं नहीं जुड़ी हुई है अपितु उनका अपना स्वार्थ है। वह जानते हैं कि एक बार भी यदि ये लोग वीरेन्द्र बाबू के कारखाने चले गये तो उनके कारखाने का काम न केवल रुक जायेगा अपितु आए दिन हड़ताल आदि होने लगेंगी। इन सबका काट उन्होंने इस्लाम से जोड़कर तलाश लिया है। कहानीकार ने मुस्लिम समाज के इस वर्ग के चरित्र और कामों को व्यापक फलक में प्रस्तुत किया है जिससे सांप्रदायिकता के फैलाव को समझा जा सकता है साथ ही समाज को बचाने की रणनीति भी बनाई जा सकती है। कहानीकार समाज के निम्न वर्ग में सांप्रदायिक विचारों को स्वीकार नहीं करता अपितु इसके लिए हाजी जी जैसे लोगों को ही जिम्मेदार मानता है। मुस्लिम समाज के कमजोर वर्ग में इतनी चेतना नहीं होती कि वह धर्म के इन नुमाइंदों के स्वार्थों को जांच सके लिहाजा वह वह आसानी से सांप्रदायिकता की चपेट में आ जाते हैं।

'ज़ख़्म' कहानी शहर में होने वाले सांप्रदायिक दंगे पर आधारित है। यह कहानी, दंगो को लेकर शहर के लोगों की मानसिकता का बयान करती है। दंगा अब लोगों के लिए मौसमों की तरह आने वाली सहज घटना है। लोगों के दिमाग दंगों को लेकर इस कदर अभ्यस्त हो गये हैं, कि उनकी संवेदना पर दंगों की भयावहता का कोई असर नहीं है। ''बदलते हुए मौसमों की तरह राजधानी में साम्प्रदायिक दंगों का भी मौसम आता है। फर्क इतना है कि दूसरे मौसमों के आने-जाने के बारे में जैसे स्पष्ट अनुमान लगाए जा सकते हैं वैसे अनुमान साम्प्रदायिक दंगों के मामले में नहीं लगते।...साम्प्रदायिक दंगों की खबरें लोग इसी तरह सुनते हैं जैसे 'गर्मी बहुत बढ़ गई है' या 'अबकी बार पानी बहुत बरसा'...दंगों की खबर सुनकर बस इतना ही होता है कि शहर का एक हिस्सा 'कफ्यूग्रस्त' हो जाता है। लोग रास्ते बदल लेते हैं।...शहर के सारे काम यानी उद्योग, व्यापार, शिक्षण, सरकारी काम-काज सब सामान्य ढंग से चलता रहता है।...''[22] कहानीकार ने इन दंगों के पीछे काम करने वाले उन राजनीतिक लोगों की सिनाख़्त की है जो अपने फायदे के लिए दंगे आयोजित करते हैं। इस तथ्य को आजादी के बाद से लेकर आठवें दशक[23] और हाल के दंगों में देख सकते हैं। लोगांे की मानसिकता यदि इस तरह की निर्मित हो जाए कि उनके लिए दंगों में लोगों को जिंदा जलाया जाना, घरों को आग लगाना, बच्चों, महिलाओं को मारना एक सहज घटना है तो इससे समाज की संवेदनहीनता का पता चलता है। इस तथ्य को रोजमर्रा की जिंदगी में भी देख सकते हैं, जब बलात्कार, हत्या की खबरें चाय की चुस्कियों के साथ पढ़ी जाती हैं। इन घटनाओं का हमारे मानस पर इतना भी फर्क नहीं पड़ता कि हम अपने को इन पर सोचने के लिए ही तैयार कर पाएं। यही तथ्य टी.वी. देखते हुए हम देख सकते हैं। यह घटनाएं आज यदि मनुष्य को प्रभावित नहीं करती हैं तो इसका कोई एकमात्र कारण नहीं है। कहानीकार इस तथ्य को बारीकी से दिखाता है। कहानी को पढ़ते हुए मध्यवर्गीय मनुष्य की असंवेदनशीलता को गहराई से महसूस किया जा सकता है। यह वर्ग इतना अधिक स्वार्थी होता जा रहा है कि इसके लिए समाज के प्रश्न गौण हो गये हैं। वह वर्तमान समय की स्वार्थी राजनीति से कहीं न कहीं प्रेरित है, जो अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए किसी भी हद तक जाने के लिए तैयार है। कहानीकार एक तरफ तो मध्यवर्गीय समाज की मानसिकता को हमारे सामने प्रस्तुत करता है, वहीं वह वोट की राजनीति का गहरे से विवेचन करता है। ''...जरा सिर्फ तसव्वुर करो कि हिन्दुस्तान में हिन्दुओं, मुसलमानों के बीच कोई झगड़ा नहीं है। कोई बाबरी मस्जिद नहीं है। कोई राम-जन्मभूमि नहीं है। सब प्यार से रहते हैं, तो भाई, ऐसी हालत में मुस्लिम लीग या आर.एस.एस. के नेताओं के पास कौन जाएगा?...''[24] इसके साथ ही उन प्रगतिशील लोगों के रस्मी कामों की वास्तविकता पर से पर्दा उठाया गया है, जो दंगों के बाद शांति मार्च, सभा संगोष्ठियों के माध्यम से सक्रिय होते हैं। कहानी का एक पात्र इन कामों की जिस तरह से विवेचना करता है, उससे पता चलता है कि इन सभा-संगोष्ठियों, शांति मार्च का दंगा रोकने से कितना मतलब रह गया है।

''जब दंगा होता है तो ये सब लोग क्या करते हैं?''

मैं जलकर बोला, ''अखबार पढ़ते हैं, घर में रहते हैं और क्या करेंगें?''

''तब तो इस जुबानी जमा-खर्च का फायदा क्या है?''

''बहुत फायदा है, तुम नहीं समझते।''

''क्या फायदा है, बताओ?''

''भाई एक माहौल बनता है, फिरकापरस्ती के खिलाफ।''

''किन लोगों में? इन्हीं में जो पहले से ही फिरकापरस्ती के खिलाफ हैं? तुम्हें मालूम है दंगों के बाद सबसे पहले हमारे मोहल्ले में कौन आए थे?''

''कौन?''

''तबलीगी जमात और जमाते-इस्लामी के लोग...उन्होंने लोगों को आटा-दाल, चावल बांटा था, उन्होंने दवाएं भी दी थीं। उन्होंने कफ्यू पास भी बनवाए थे।''

''तो उनके इस काम से तुम समझते हो कि वे फिरकापरस्ती के खिलाफ हैं?''

''हों या न हांे, दिल कौन जीतेगा...वही जो मुसीबत के वक्त हमारे काम आए या जो...''[25]

इससे पता चलता है कि दंगों के बाद कौन लोग सबसे अधिक सक्रिय ढंग से लोगों के बीच काम करते हैं। इस तथ्य को किसी भी दंगे में देखा भी जा सकता है। कथा पात्र यहां इस बात पर सवाल खड़ा करता है जो सबसे पहले लोगों की मद्द के लिए आएंगे, लोगों की सहानुभूति उनके प्रति बनती है। बाकी सारे सवाल पीछे छूट जाते हैं। यह काम हिंदू-मुस्लिम दोनों सांप्रदायिक पूरी शिद्दत के साथ करते हैं। कहानीकार ने यहां मुस्लिम समाज के सांप्रदायिक लोगों का ही खास तरह से जिक्र किया है, इससे रचनाकार की ईमानदारी भी दिखाई पड़ती है। रचना में जब चलताऊ ढंग से संवेदनशील मुद्दों पर कुछ तथ्य प्रस्तुत किए जाते हैं, तो उससे समाज की जो छवि बनती है वह, वास्तविकता से काफी अलग होती है। आलोचक मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा है-''....सिर्फ बहुत बड़ी थीम(विषय) उठा लेने से काम नहीं चलता यह जरूरी है कि सिर्फ उतना ही अंश उठाया जाये जिसका मन पर अत्यधिक आघात हुआ है...।''[26] कहानीकार मुस्लिम समाज से गहरे से जुड़ा हुआ है, उसी में जन्मा पला-बढ़ा है। इसलिए प्रामाणिकता भी मुस्लिम समाज को लेकर अधिक है। यह बात इसलिए कह रहा हूं क्योंकि आजादी के बाद समाज की संरचना में बदलाव आया है। अब साझापन बहुत कम है इसलिए दूसरे समाज के यथार्थ को पूरी ईमानदारी से रचना में अभिव्यक्त कर पाना मुश्किल है। असगर वजाहत इस बात का ध्यान रखते हैं। वैसे भी समाज को सम्पूर्ण रूप मंे जानने का दावा कोई नहीं कर सकता, खासतौर से आज के समाज को तो बिल्कुल ही नहीं। निदा फाजली के हवाले से कहें तो 'हर आदमी में होते हैं दस बीस आदमी/जिसको भी देखना हो कई बार देखना...। इसके साथ ही वह उन रचनाकारों के सामने एक चुनौती भी प्रस्तुत करते हैं, जो सांप्रदायिकता का वर्णन

बहुत सतही ढंग से करते हैं। सांप्रदायिकता समाज बहुत ही संवेदनशील मुद्दा है, इसलिए उसको जब भी रचना में विषय बनाया जाए तो बहुत सावधानी से रचना में दिखाया जाए।

आज सांप्रदायिकता समाज में जिस तरह से काम कर रही है, उसको समझना थोड़ा जटिल है। कहानीकार ने इस जटिल प्रक्रिया को कहानी में छोटी-छोटी घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सांप्रदायिकता का प्रभाव मात्र दंगों में ही दिखाई नहीं पड़ता अपितु इसकी तैयारी में बहुत लंबा समय लगाया जाता है। इस तथ्य को मुजफ्फर नगर दंगों से लेकर भिवंडी आदि तक में देखा जा सकता है। इतिहासकार बिपन चन्द्र सांप्रदायिकता को एक विचारधारा के रूप में स्वीकार करते हैं।[27] जो समाज में कभी त्यौहारों के रूप में, कभी किसी आपदा के समय अपनी सेवा के रूप में और कभी किसी दूसरे लिबास में रहकर अपना अस्तित्व बनाए रहती है। आम जनमानस इस तथ्य को इस रूप में समझ नहीं पाता, इसीलिए वह सहज ही इसका शिकार हो जाता है। कहानी पात्र 'मुख्तार' भाई सांप्रदायिकता के संबंध में जो बातें कहते हंै, उससे आम जनमानस की मानसिकता को समझा जा सकता है। वह जो बातें शांति जुलूस निकालने वालों, सभा-संगोष्ठी करने वालों के बारे में कहते हंै, उससे पता चलता है कि सांप्रदायिकता से लड़ने के जो भी उपाय किए जा रहे हैं, वह कितने अप्रासंगिक हैं। सांप्रदायिकता की लड़ाई में जिस तरह की तेजी की जरूरत है, वह तेजी पूरी प्रगतिशील तबके में दिखाई नहीं पड़ रही। ऐसे में सांप्रदायिकता की समस्या और ज्यादा बिकराल हो जाती है।

वहीं 'तेरह सौ साल का बेबी कैमिल' कहानी में कहानीकार ने मुस्लिम समाज के उस तबके की असलियत बयान की है जो इस्लाम के नाम पर अपने सभी गैरवाज़िब कामों को वाजिब ठहराता है। वह चाहे कई शादियां करने का मामला हो या ईद के मौके पर ऊंट काटने का मामला। ऐसे लोग समाज के आस-पास के लोगों को एक सच्चा मुस्लिम होने के सारे गुर सिखाने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग हमारे समाज में आसानी से देखने को मिल जाते हैं। यह लोग धर्म से जुड़ी किसी संस्था के अध्यक्ष, कई संस्थाआंे के संरक्षक होते हैं। कहानीकार इन प्रबुद्ध लोगों में किस तरह के सांप्रदायिक विचार बैठे हुए हैं, इनका बारीकी से वर्णन करता है। आजादी के दौर के मुस्लिम बौद्धिक लोगों को यदि देखें तो उनकी असलियत आजादी के बाद के मुस्लिम बौद्धिकों से अलग है। इन मुस्लिमों में एक तरफ तो सज़्ज़ाद ज़हीर, फैज़ अहमद 'फैज़' जैसे लोग हैं तो मौला अबुल कलाम आजाद जैसे धार्मिक हैं। यह सभी धर्म के रूढ़िवादी विचारों से मुक्त ही नहीं उनके खिलाफ हैं। जबकि उत्तर आधुनिक युग में बौद्धिकता का अलग चरित्र प्रकट होता है। ''ख़्वाजा अब्दुल मजीद 'हक़्क़ानी' कॉमर्स पढ़ाते हैं लेकिन अपने आप में बहुत बड़ी संस्था हैं।...'अंजुमने अक़्दे बेवगाने मुस्लमीन' के अध्यक्ष हैं। संस्था का अनुवाद कुछ इस तरह होगा-मुसलमान विधवा औरतों का पुनः निकाह कराने वाला संगठन। 'हक' नाम की पत्रिका के सम्पादक हैं। 'उस दुनिया' नाम का एक संगठन भी चलाते हैं जो इस्लाम का प्रचार करता है। सभी तरह के धार्मिक आयोजन बड़े ज़ोर-शोर से करते हैं लेकिन धार्मिक लोग उन्हें नापसंद करते हैं।...''[28] हक्कानी जिस कॉलेज में नौकरी करते हैं वह मुस्लिमों का कॉलेज है। वहां हिंदुओं की संख्या बहुत ही कम है। ऐसे में एक अकेले डॉ. ओमप्रकाश शर्मा ही हैं, जो कॉलेज के फ्लैट्स में मुस्लिमों के बीच रहते हैं, उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित किया जाता है। ''बीस साल में बीसियों पागल देखे, कुछ पागल उन्हें

मांस खिलाने पर कमर कसे हुए थे। उन्हें लगता था पंडित ओम प्रकाश शर्मा ने मांस खा लिया तो धरम भ्रष्ट हो जाएगा और वह मुसलमान हो जाएगा।...कुछ पागल डॉ. शर्मा को गुरु गोलवलकर का प्रतिनिधि मानते थे। कुछ यह मानते थे कि बाबरी मस्जिद अकेले डॉ. शर्मा ने ढहाई है।...''[29] कॉलेज में कुछ ऐसे लोग भी हंै, जिनके लिए सबसे बड़ा धर्म 'मानव धर्म' है। वह अलग-अलग मौकों पर डॉ. शर्मा को सहारा देते हैं।

''साजिद कहता है-यार, ये सब पागल हैं, पागल।

डॉ. शुजाअत कहते हैं-कालिज की चैहद्दी से बाहर निकलने में इनकी नानी मरती है। तुम्ही को मुसलमान बनाने के लिए दंड पेलते रहते हैं।

अतिया अज़ीज़ कहती हैं-ये बीमार लोग हैं। शर्मा इनकी बातों का बुरा न माना करो।

ताहिर हुसैन कहते हैं-यार ये अपने दिल की भड़ास कहां निकाले। दूसरे हिन्दू टीचर कैम्पस में नहीं रहते। तुम ही इन्हें मिल जाते हो।

डॉ. शुजाअत कहते हैं-बुरा न माना करो यार...इनमें से कोई सीरियस होने लगे तो बताना, ठीक कर दूंगा। मैं भी 'प्रैक्टिसिंग' मुसलमान हूं।''[30]

वहीं वह अपनी ही जात-बिरादरी में भी बार-बार अपमानित किए जाते हैं। सबको यही लगता है कि शर्मा जी का धर्म किसी न किसी तरह भ्रष्ट जरूर हो चुका है। दरअसल हिंदू समाज के लोग मुस्लिमों के प्रति बहुत से भ्रमों के साथ जीते हैं। मसलन मुस्लिम छिपकर या चालाकी से हिन्दुओं का धर्म भ्रष्ट कर देते हैं, गोश्त मिला देते हैं। इसका कारण है, समाज की मिश्रित संस्कृति की दीवार का कमजोर हो जाना, इसीकारण दूसरे धर्म के प्रति लोगों में गलत तरह के भाव भर गए हैं। समाज जितना अधिक प्रगति करता जा रहा है, लोगों के मन में छिपी जहालत और ज्यादा बढ़ रही है। यह जहालत सिर्फ अशिक्षित लोगों में नहीं बढ़ रही है अपितु उन लोगों में बढ़ रही है, जो बहुत अधिक तालीमयाफ्ता हैं। कहानीकार ने इस तथ्य पर से पर्दा उठाया है कि सांप्रदायिकता का असर मात्र गैर पढ़े-लिखे लोगों पर ही नहीं होता बल्कि उसका प्रभाव तालीमयाफ्ता लोगों के बीच भी बढ़ रहा है। हक्कानी एक तालीमयाफ्ता बौद्धिक हैं लेकिन उनकी समूची बौद्धिकता इस्लाम की गलत व्याख्या तक सिमटकर रह गई है। कहानी के कुछ पात्र हक्कानी की इसी प्रवृत्ति के खिलाफ खड़े होने की बात करते हैं।''...हम लोग कब तक ये चुपचाप देखते रहेंगे? 'हक़्क़ानी' ने अपनी पहली बीवी को मारकर घर से निकाल दिया। सोलह साल की लड़की से शादी की...उसके बाद फिर एक लड़की को खरीद लिया और कहा कि निकाह पढ़ाया है...वो समझता है इस्लाम की आड़ में जो चाहे कर सकता है, पहले तो उसका यही भ्रम तोड़ना चाहिए।''[31] यह बहुत कुछ बचाए जाने का संकेत है। कहानी में जिस बेबी कैमिल की घटना को आधार बनाकर कहानी बुनी गई है, वह सहज घटना नहीं है। ऊंट का काटा जाना और उसके बाद की स्थितियां लोगों के मन में हक्कानी के खिलाफ बैठे विचारों को व्यक्त करने का साहस दे

देती है। एक घटना पूरे के पूरे समाज को झकझोरकर रख देती है। अभी तक जो लोग हक्कानी के खिलाफ कुछ भी बोलने से बचते थे, वही जब अस्पताल में उस बच्ची की(पापा! बेबी कैमिल कहां है? मैं उसे देखंूगी!) बेहोशी में हालत देखते हैं, वह भी अपने को हक्कानी के खिलाफ बोलने से रोक नहीं पाते। कहानीकार बच्चे के माध्यम से वर्तमान समाज की वास्तविकता बयान करता है। समाज में जब हम दूसरे की भावनाओं का थोड़ा ध्यान रखकर चलते हैं तो समाज ज्यादा संगठित और उदार बनता है, लेकिन जब हम अपने हितों को ही प्रमुख मानकर धर्म की सतही व्याख्या के हिसाब से जीते हैं तो समाज की कड़िया कमजोर होती है। भारत में हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के कारणों में यह प्रमुख कारण रहे हैं। आजादी के बाद की सामाजिक संरचना इसीकारण बदली है। हिंदू-मुस्लिम अलग-अलग बस्तियों में रहने लगे हैं, जिससे भारत की मिश्रित संस्कृति को बहुत नुकसान पहंुचा है। कहानी का फलक व्यापक और मानवता की उदात्तता से युक्त है। रचनाकार समाज मंे जो कुछ भी अच्छा है उसे कुछेक पात्रों के सहारे बचाने का सपना बुनता है और इस बात की तरफ संकेत करता है कि समाज में शिक्षण संस्थाओं(इदारों) को जिस तरह से धर्मों के आधार पर बांटा जा रहा है वह समाज के स्वास्थय के लिए उचित नहीं है। शिक्षण संस्थाएं(इदारों) ही समाज की जड़ मान्यताओं के खिलाफ वैज्ञानिक चेतना का प्रसार करती हैं। इदारों को धर्म के इन संकुचित विचारों से मुक्त रखना चाहिए नहीं तो समाज और ज्यादा बंटता चला जाएगा। इस तथ्य को देश के दो शिक्षण संस्थानों-अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय नई दिल्ली में देख सकते हैं। जहां पर एक खास तरह के समाज की संस्कृति दिखाई पड़ती है। लिहाजा, संस्था का स्वरूप अलग ढंग से निर्मित हो जाता है।

वहीं असगर वजाहत ने शिक्षा संस्थानों में उच्च पदों पर बैठे लोगों के चरित्र का भी 'गवाही' कहानी में विवेचन किया है। यह वही लोग हैं जो अपने फायदे के लिए देश की तरक्की में इस तरह से सहयोग दे रहे हैं। कोई यहां बिरादरी के आधार पर अपने लोगों को नियुक्त कर रहा है तो कोई अपने क्षेत्र के लोगों को। सरकार में बैठे मंत्री लोग भी इसमें अपनी सार्थक भूमिका निभाते हैं। सरकारों के बदलने के साथ ही नियुक्तियों में अपने लोगों को तलाशा जाता है, जिससे अपने हितों को पूरा किया जा सके। कहानीकार इन संस्थानों की आंतरिक सच्चाई को बयान करता है। आजादी के बाद नेहरू ने जिस वैज्ञानिकता की कल्पना इन संस्थानों में की थी, वह यहां कमोबेश नदारत है। ''आजादी के बाद पूरे देश में बड़े स्तर पर शोध-संस्थान, अकादमियां, परिषदें आदि खुलना शुरू हो गई थीं। हर विषय की एक-एक परिषद या शोध-संस्थान खुल रहा था। वे लोग जिनकी दाल विश्वविद्यालयों में न गल सकी थी, तेजी से हाथ पैर मारते इधर आ रहे थे। लेकिन इन शोध संस्थानों में भी कहीं 'बिहार' छाया हुआ था, कहीं 'मद्रासी' का बोल-बाला था, कहीं 'पंडित' जमे थे और कहीं 'पंजाबी' छाए हुए थे।...'इतिहास शोध केंद्र' में जहां अब तक 'बिहारियों' का बोलबाला था, अब स्थिति कुछ बदलने वाली है, क्योंकि नए शिक्षामंत्री जो स्वयं पहले किसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे, यह नहीं चाहते कि उनके मंत्रालय की स्वायत्तशासी संस्था पर उनका नहीं बल्कि 'बिहारियों' का कब्जा रहे।...''[32] ऐसे में विरोधी को मात देने के लिए सारे षड़यंत्र रचे जाते हैं। प्रोफेसर सूरी भी कुछ ऐसा ही करते हैं। वह अपने से पहले के निदेशक के हर आदमी को निशाना बनाते हैं। इसमें उनके

साथ एक पूरा गिरोह है, जो उनके षडयंत्रों को मुकाम तक पहुंचाता है और पहुंचने पर अपनी बहादुरी का हिस्सा भी चाहता है। प्रोफेसर सूरी ने इसके लिए एक पूरी योजना तैयार की। ''नई रणनीति बनाते समय उन्होंने अपनी शक्ति का सही अंदाजा लगाया और 'हांका' वाली पद्धति आजमाने की सोची।...छः साढ़े छः के आसपास जब सब लोग चले जाते थे तो प्रोफेसर सूरी का कमरा 'बॉर' में तब्दील हो जाया करता था। अल्मारी से मैकडावेल की बोतल निकल आती।...कमरा अंदर से बंद करके 'हांका' लगाने की रणनीति तय होने लगती।''[33] कहानीकार ने प्रोफेसर सूरी के माध्यम से आज विश्वविद्यालयी राजनीति की सचाई बयान की है। आज विश्वविद्यालयों में जिस तरह से अपने लोगों को नियुक्त करवाने के प्रयास सरकार और विश्वविद्यालय के लोग कर रहे हैं, उससे विश्वविद्यालयों की गुणवत्ता प्रभावित हो रही है। आज विश्वद्योलयों में ज्ञान के नए स्रोतों की तलाश बहुत कम हो रही है। सरकारों के लिए, विश्वविद्यालय अपनी नीतियों को लागू करने, अपने लोगों को नियुक्त कराने का माध्यम बन गए हैं। ऐसे में जिन विश्वविद्यालयों के छात्र, प्रोफेसर सरकार के खिलाफ आवाज़ उठाते हैं, उनको देशद्रोही मान लिया जाता है। आज असहमत होने का अर्थ देशद्रोह हो गया है। प्रोफेसर सूरी इस व्यवस्था के बारे में जो कहते हैं, इसमें सच्चाई है। ''...अक्सर लगा करता है कि दुनिया बदली नहीं है। क्या बदला है? कुछ नहीं? वही शासक है, वही प्रजा है, वही नौकरशाही है, वही आपाधापी है, वही षड्यंत्र है, वही सत्ता की राजनीति है।...''[34] वह अपने पहले के निदेशक के खिलाफ जिस तरह का षड़यंत्र करते हैं, वही षड़यंत्र उनके खिलाफ होता हैं। उनका साथ देने वाला यानी गवाही देने वाला कोई नहीं रहता। कहानीकार ने विश्वविद्यालयी राजनीति की सच्चाई को दिखाने के लिए उन छोटी-बड़ी सभी घटनाओं का उल्लेख किया है, जो आज देखने को मिलती है। यह स्थिति किसी एक विश्वविद्यालय की नहीं है अपितु अधिकांश केन्द्रीय और राज्य के विश्वविद्यालय इसी तरह की स्थितियों से गुजर रहे है। इसीकारण दुनिया के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में भारत के विश्वविद्यालय नहीं है। यह कहानी भविष्य के समाज की एक तस्वीर प्रस्तुत कर रही है, जब इन विश्वविद्यालयों से निकले छात्र मूल्यहीन जीवन जिऐंगे और यही लोग समाज के प्रतिमान भी निर्धारित करेंगे। यह कहानी मात्र विश्वविद्यालयी राजनीति की सच्चाई भी बयान नहीं करती अपितु राजनीति के सरोकारों को भी व्यक्त करती है। एक समय था जब राजनेता विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करते थे, लेकिन आज की राजनीति सबसे अधिक शिकंजा शिक्षा पर ही कसती है। पहले शिक्षा का बजट कम किया जाता है और फिर अयोग्य लोगों को नियुक्त कर शिक्षा संस्थानों का भविष्य का गढ़ा जाता है। कहानीकार इस भयावहता को बिना किसी नारेबाजी के अभिव्यक्त करता है, इसीलिए ज्यादा प्रामाणिक लगता है।

असगर वजाहत की कहानियांे का कथानक विस्तृत है जिनमें शिल्प का बनावटीपन नहीं है। यह कहानियां समाज की समस्याओं का बारीक विवेचन तो करती ही हैं साथ ही पाठक को समाज के बारे में एक नई दृष्टि भी देती हैं। कहानियों में विचारधारा इस तरह घुली-मिली हुई है कि उसको अलगा पाना कठिन है। असगर की कहानियांे में पार्टी की लाइन वाला यथार्थ नहीं है और पार्टी पर सवाल उठाने से कहीं बचा नहीं गया है। एक रचनाकार के लिए यह बड़ी कसौटी होती है कि वह अपनी विचारधारा को रचना पर हावी होने से बचा ले जाए। असगर वजाहत इसमें सफल दिखाई पड़ते हैं। वह कथानक

के चुनाव में भी सतर्कता बरतते हैं। वह कहानी में फैशनेबुल ढंग के विषय नहीं चुनते, इसीलिए उनकी कहानियों में यथार्थ की एक नई छवि देखने को मिलती है। वह सांप्रदायिकता जैसे मुद्दे पर जिस तरह कहानियां बुनते हैं, वह नए कहानीकारों के लिए चुनौती है। इन कहानियों का फलक बहुत व्यापक है। वह एक ही साथ सांप्रदायिकता, राजनीति का चरित्र, मध्य वर्ग की स्थिति आदि का बेबाकी से अभिव्यक्त करते हैं। इसीलिए असगर वजाहत की कहानियां एक अलग ढंग के विवेचन की मांग करती हैं।

[1] हंस, लंबी कहानियां 1 हंस के पच्चीस वर्षों (1986 से 2011) का चयन, (श्रृंखला सम्पादक: राजेन्द्र यादव, संकलन सम्पादक अर्चना वर्मा), 'पच्चीस वर्षों में हंस की लंबी कहानियां' में लिखते हैं-''लंबी कहानी क्या है? क्या कहानी का लंबा होना, पृष्ठ संख्या या शब्दों से तय होगा? जब हमने 'हंस' में किसी एक कहानी को लम्बी कहानी कहकर प्रकाशित किया तो जाहिर है यह सवाल हमारे सामने इस रूप में नहीं था। 'बड़ी कहानी' और लंबी कहानी का प्रश्न तो बाद में उठा और लगा कहानी के रूप पर भी विचार किया जा सकता है, विशेषकर जब सितंबर 1995 में जीआ गुइया रायेस की डेढ़ पृष्ठ की 'दूसरे किनारे से' कहानी को हमने लंबी कहानी के रूप में छापा। वह बड़ी कहानी थी। न जाने कितनी कहानियां हैं जो आकार में छोटी मगर कथ्य में बड़ी हैं।....'उसने कहा था' क्यों लंबी कहानी है और 'कफन' क्यों सिर्फ कहानी या शॉर्ट स्टोरी-जबकि दोनों बड़ी कहानियां हैं। जाहिर है, कथ्य ही लंबी और बड़ी कहानी का निर्णय कर सकता है।'' वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011

[2] वजाहत, असगर, केक, उनका डर तथा अन्य कहानियां (कहानी संग्रह), चयन और प्रस्तुति कुंवर पाल सिंह, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 19

[3] उपर्युक्त, पृ. 15

[4] उपर्युक्त, पृ. 26-27

[5] उपर्युक्त, पृ. 27

[6] उपर्युक्त, पृ. 20

[7] प्रकाश, उदय, पॉल गोमरा का स्कूटर, लिखते हैं-''...पिछले दस साल में तो देखते-देखते पूरी दुनिया ही बदल गई थी। उनका अखबार मोनोप्रिंटिग के इतिहास से निकलकर, फोटो कंपोजिंग से होता हुआ अब पूरी तरह कम्प्यूटराइज्ड हो चुका था। सैटेलाइट प्रक्षेपण से पृष्ठ के पृष्ठ पलक झपकते दिल्ली से बंबई और अहमदाबाद पहुंच जाते। मोटे लंेस का आंखों पर चश्मा चढ़ाए, चिमटी से टाइप फेस बीन-बीनकर एक-एक अक्षर, मात्रा और शब्द बनाते, बीड़ी फूंकते, खैनी मलते बूढ़े कम्पोजीटर्स अब नहीं रह गए थे। उनके साथ ही 'जो हमसे टकराएगा, चूर-चूर हो जाएगा', 'लालकिले पर लाल निशान, मांग रहा है हिन्दुस्तान!' जैसे नारे, यूनियनबाजी, दारूखोरी, ठहाके और सारी मस्ती गायब हो गई थी। उनकी जगह अब स्कूटर और लेजर प्रिंटर पर बैठने वाले जीन्स-बीयर वाले फोर फीगर सैलरी के उत्तर आधुनिक कंपाजीटर्स आ चुके थे।'', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010 पृ. 38

[8] सिंह, रणधीर, आज की भारतीय राजनीति विकास के समाजवादोन्मुख मार्ग के पक्ष में तर्क(अनुवाद: तरुण कुमार), अकार बुक्स, दिल्ली, 2010, पृ. 22

[9] वजाहत, असगर, कत्लेआम का मेला, डेमोक्रेसिया (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ. 95-97

[10] उपर्युक्त, पृ. 95

[11] उपर्युक्त, पृ.94

[12] वजाहत, असगर, राजधानी के नीचे, स्विमिंगपूल (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1990, पृ. 96

[13] उपर्युक्त, पृ. 99

[14] उपर्युक्त, पृ. 100

[15] चन्द्र, बिपन, सांप्रदायिकता एक परिचय, लिखते हैं-'सांप्रदायिकता को बड़े पैमाने पर फैलाने का काम आर.एस.एस., विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल, जमात-ए-इस्लामी और अकाली दल जैसे सांप्रदायिक-राजनीतक दलों का ही नहीं है बल्कि स्कूलों, कॉलेजों, पूजा स्थलों और सामाजिक मेलमिलापों की गपशप के जरिए भी सांप्रदायिकता को रास्ता मिलता रहा है।...'' अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2004, पृ. 21

[16] वजाहत, असगर, सारी तालीमात, उनका डर तथा अन्य कहानियां (कहानी संग्रह), चयन और प्रस्तुति कुंवर पाल सिंह, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 41

[17] उपर्युक्त, पृ. 41-42

[18] उपर्युक्त, पृ. 42

[19] उपर्युक्त, पृ. 42-43

[20] उपर्युक्त, पृ.44-45

[21] उपर्युक्त, पृ. 46-47

[22] वजाहत, असगर, ज़ख़्म, मैं हिन्दू हूं (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. 7

[23] इंजीनियर, असगर अली, भारत में सांप्रदायिकता इतिहास और अनुभव(अनुवाद: सुभाष चन्द्र), लिखते हैं-''...अस्सी के दशक के अन्तिम वर्षों में मेरठ (1987), भागलपुर(1989), जयपुर(1989,1990), हैदराबाद(1990), और अन्य कई स्थानांे पर रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद को लेकर दंगे हुए।...'' इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, भूमिका, पृ. 19

[24] वजाहत, असगर, ज़ख़्म, मैं हिन्दू हूं (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. 11

[25] उपर्युक्त, पृ. 18

[26] मुक्तिबोध, एक साहित्यिक की डायरी, डबरे पर सूरज का बिम्ब, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1987, पृ. 48

[27] चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, लिखते हैं-''...सांप्रदायिकता मूल रूप से एक विचारधारा है। सांप्रदायिकता केवल सांप्रदायिक दंगों, सांप्रदायिक हिंसा अथवा सांप्रदायिक आतंकवाद में ही नहीं होती निश्चित रूप से उसका संबंध सांप्रदायिक विचारधारा से है, परंतु मूल रूप से सांप्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा है जिसके ये तीनों (दंगे, हिंसा तथा आतंकवाद) संयुक्त परिणाम हैं। सांप्रदायिक विचारधारा बिना बिना हिंसा के भी अपना अस्तित्व कायम रख सकती है, परंतु सांप्रदायिक विचारधारा के बिना सांप्रदायिक हिंसा का कोई अस्तित्व नहीं होता।...'' अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, 2011, पृ.139

[28] वजाहत, असगर, तेरह सौ साल का बेबी कैमिल, मैं हिन्दू हूं (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृ. 136

[29] उपर्युक्त, पृ.134

[30] उपर्युक्त, पृ. 135

[31] वजाहत उपर्युक्त, पृ. 141

[32] वजाहत, असगर, गवाही, स्विमिंगपूल (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1990, पृ. 11

[33] उपर्युक्त, पृ. 17-18

[34] उपर्युक्त, पृ. 21